Sahitya Manthan
A Peer-Reviewed, Open Access e-journal
ISSN: 2582 6867, Website: http://www.sahityamanthan.in
Year-1, Issue-4, Continuous Issue-4, November-December2020

उपनिषद्दिशा शिक्षा प्रणाली

अदिति (शोधच्छात्रा) संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनया इति शिक्षा। संसार की किसी भी विद्या का ज्ञान प्राप्त कराने का साधन शिक्षा ही है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली की उपादेयता के कारण ही भारत का समस्त प्राचीन तथा विशाल वाङ्मय इतना सुरक्षित तथा समृद्ध बना रहा। सभ्यता एवं संस्कृति के सम्यक् प्रसार तथा विकास के लिये एवं वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय प्रगति के लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक है। शिक्षा से ही मानव में मानवता का आधान होता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में शिक्षा को प्रशंसनीय बनाने वाले सभी तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से जब हम उपनिषत् साहित्य का सिंहावलोकन करते हैं, तो ज्ञात होता है कि विद्यार्थी जीवन से सम्बन्धित संस्कार, गुरु शिष्य का सम्बन्ध, गुरु के गुण कर्तव्य, शिष्य के गुण कर्तव्य एवं शिक्षा के विषय आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा स्थान स्थान पर हुई है। शिक्षा की दृष्टि से उपनिषद् शब्द का अर्थ समझना भी महत्त्वपूर्ण है। उपनिषद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार है– **उपनिषादयति सर्वानर्थकसंसारं विनाशयति संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति। ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्** अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। यह रहस्यभूत आत्मतत्व का भी बोध कराने वाली विद्या है। वेदों के अन्त में होने के कारण इसे वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों की संख्या १०० से भी अधिक है, मुख्य ११ उपनिषद् हैं। इनमें से ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि कुछ ऐसे उपनिषद् हैं, जिनमें शिक्षाविषय मुख्यरूप से प्रस्तुत किये गए हैं।

विश्व में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थों के रूप में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। वेदों के सारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा के दो प्रकार बताए गए हैं– शब्दशिक्षा व अर्थशिक्षा। शब्दशिक्षा में वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, मध्यम, द्रुत, विलम्बितवृत्ति और संहिता या अवसानादि के यथार्थ स्वरूप का बोध होना **शब्दशिक्षा** कहलाती है। शिक्षा नामक वेदाङ्ग और व्याकरण भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।गुण कर्म स्वभावों का शुद्ध करना द्वितीय **अर्थशिक्षा** कहलाती है, यह शिक्षा प्रधान है। परस्पर मिले हुए पदार्थों का विभाग के साथ अवयव सम्बन्धी ज्ञान ही मुख्य ज्ञान है और उसी ज्ञान से संसार के परमार्थ सुख की सिद्धि होती है और यही ज्ञान शिक्षा का पूर्वरूप है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के शिक्षावल्ली में ईश्वर का स्मरण कर वर्णोच्चारण की शिक्षा का विवरण है – **ओ३म् शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम् साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।**शिक्षा 'शब्दों' द्वारा दी जाती है, शब्दों की उत्पत्ति 'वर्णों' से होती है। अ, आ, इ, ई तथा क, ख, ग, घ आदि 'वर्ण' हैं। वर्णों के ज्ञान के बाद 'स्वर', अर्थात् उच्चारण का ज्ञान होना आवश्यक है। वर्णज्ञान का अर्थ है अक्षरों का ज्ञान, स्वरज्ञान का अर्थ है कौन सा वर्ण कैसे बोला जाता है– इसका ज्ञान स्वरज्ञान है। कुछ बालक 'स' को 'फ' और 'त' को 'ट' बोलने लगते हैं। उनका स्वर ठीक नहीं होता है। जैसे वर्ण का ज्ञान कराना आवश्यक है, वैसे स्वर का ज्ञान कराना भी उतना ही आवश्यक है। वर्ण और स्वर ज्ञान के बाद मात्रा का ज्ञान कराया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत– इन मात्राओं का ज्ञान शब्दोच्चारण में सहायक होता है। कुछ लोग ह्रस्व की जगह दीर्घ और दीर्घ की जगह ह्रस्व मात्रा का प्रयोग कर देते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा के ज्ञान के बाद मात्राओं का 'बल' जानना आवश्यक है। संस्कृत के ज्ञान में मात्राओं का अपना अपना बल है। 'आ' की मात्राका बल शब्द को स्त्रीलिङ्गी बना देता है– जैसे 'सः' का अर्थ है 'वह पुरुष', 'सा' का अर्थ है, 'वह स्त्री'।

'औ' की मात्रा का बल एक वस्तु को दो बना देता है– जैसे 'तौ' का अर्थ 'वे दोनों'। 'आः' की मात्रा का बल एक को अनेक बना देता है– जैसे 'गताः' का अर्थ है 'वे सब गए'। इसके बाद शब्द ज्ञान में साम अर्थात् समता से उच्चारण करना आना चाहिए, ऊँचे– नीचे बोलने का ढंग आना चाहिए। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के अनन्तर शब्दों का सन्तान प्रारम्भ हो जाता है, शब्दों से वाक्य और वाक्यों से ग्रन्थ बन जाते हैं। यही शब्दों का सन्तान है, फैलाव है, विस्तार है। इस प्रकार 'वर्णों' से प्रारम्भ करके 'वर्णों की सन्तान' तक पहुँच जाने में ही सब शिक्षा समाहित हो जाती है। वर्णों की सन्तान का अर्थ है, वर्णों का आपस में मिलना जुलना। वर्णों के मेल जोल को ही 'संहिता' कहते हैं। जैसे माता पिता के मेल से सन्तान होती है वैसे ही वर्णों के मेल से, उनकी संहिता से 'शिक्षा' प्रारम्भ होती है।

'संहिता' से 'ज्ञान' का उदय होता है, पाँच 'महासंहिता' से 'उपनिषद् ज्ञान' का उदय होता है। कठ उपनिषद् में यम ने भी नचिकेता को सन्धि में से गुजरने का उपदेश दिया है। 'संहिता' यह 'सन्धि' का ही दूसरा नाम है। इन महासंहिताओं का पाँच प्रकार से वर्णन किया जा सकता है– अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज्ञ तथा अध्यात्म। जैसे वर्णों की सन्धि होती है, संहिता होती है, वैसे ही इन पाँच स्थानों में, पाँच अधिकरणों में महासन्धि, महासंहिता होती है। जैसे वर्णों की सन्धि से ज्ञान का उदय होता है, वैसे लोक में, ज्यौतिष में, विद्या में, प्रजा में तथा आत्मा में जो महासन्धियाँ होती हैं, उनसे ब्रह्म ज्ञान का उदय होता है। विद्या में महासन्धियां – विद्या का उद्गम स्थान 'आचार्य' है, विद्या का लक्ष्य शिष्य है, 'अन्तेवासी' है। अतः आचार्य पूर्वरूप है, अन्तेवासी अर्थात् शिष्य उत्तररूप है। गुरु शिष्य का मेल 'विद्या' द्वारा होता है, अतः विद्या सन्धि है, विद्या की अभिव्यक्ति प्रवचन से होती है, अतः प्रवचन सन्धान है। वर्णों की संहिता की तरह यह विद्या की महासंहिता है। विद्या के क्षेत्र आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन मानो एक–एक वर्ण हैं। जैसे भिन्न भिन्न वर्णों की सन्धि से एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन की महासन्धि से, महासंहिता से ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है।

संसार में सब जगह संहिता है, समन्वय है, हर एक वस्तु का ऐसा मेल जोल है जैसे वे एक दूसरे के लिए ही गढी गई हैं। यह समन्वय विश्व की सभी रचनाओं में, पृथ्वी और द्यु में, अग्नि और सूर्य में, आचार्य और शिष्य में, माता और पिता में, शरीर की उभयविध इन्द्रियों में, अक्षरों तथा शब्दों में सभी जगह पाया जाता है। जो इस महासंहिता को, विश्व के महान् समन्वय को जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्म तेज, अन्न, स्वर्ग लोक सभी से समन्वित हो जाता है।'समन्वय' ही सबसे बडी शिक्षा है। संसार में सब जगह समन्वय है। संसार का इतना महान् समन्वय, इतनी महान् संहिता नास्तिक से नास्तिक को ब्रह्म ज्ञान करा देती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्ण, स्वर, मात्रा की संहिता को जीवन की महासंहिता के रूप में दिखा कर यह बताया गया है कि पुस्तकों की शिक्षा में जो संहिता है वह तभी सफल हो सकती है जब वह संहिता जीवन में महासंहिता का रूप धारण कर ले।

शिक्षावल्ली प्रकरण में पृथिव्यादि तीन पञ्चक आधिभौतिक और आधिदैविक सम्बन्ध में जानना चाहिए और प्राणादि तीन पञ्चक अध्यात्म सम्बन्धी है। इन छः पञ्चकों का किन–किन अंशों में प्रेम वा विरोध है, ऐसा जानकर कार्यों को आरम्भ करने वाले पुरुष तीन प्रकार के दुःखों को छोडकर सर्वोत्तम सर्वविध सुख को प्राप्त करते हैं।

अपनी शिक्षा की सम्पूर्ण अवधि में व्यक्ति गुरुकुल या तपोवन में गुरु के समीप रहता था। गुरु और शिष्य में पिता पुत्र सदृश स्नेह तथा सम्मान का सम्बन्ध होता था। शिष्य की प्रत्येक कठनाई का समाधान करना गुरु का कर्तव्य था और गुरु की आज्ञा का पालन करना शिष्य का परम कर्तव्य था। यही कारण था कि प्रतिदिन पाठ करने से पूर्व गुरु एवं शिष्य एक प्रार्थना करते थे कि हे ईश्वर!आप हम गुरु शिष्य दोनों की साथ साथ सब प्रकार से रक्षा करें, हम दोनों का साथ साथ पालन पोषण करें, हम दोनों साथ साथ बल प्राप्त करें, हम दोनों के द्वारा पढी गई विद्याएँ तेज युक्त हों तथा हममें कभी भी द्वेष न हो। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है –

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वीनावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥[ii]

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी आया है– सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।

जीवन के चार पुरुषार्थों का समन्वित एवं विशिष्ट आचरण गुरु प्रदत्त ज्ञान से ही सम्भव हो पाता है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥[iii]

उत्पन्न होते ही मनुष्य तीन ऋणों से युक्त होता है। इस त्रिऋण में से ऋणि ऋण से उर्ऋण हो पाना तभी सम्भव है, जब मनुष्य गुरु के समीप शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। **जायमानो ह वै ब्राह्मणास्त्रिभिऋणवाँ जायते ...एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।**[iv] आचार्य से प्राप्त विद्या ही चरम प्राप्तव्य की ग्राहिका एवं साधिका होती है– **आचार्याद्वै विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति।**[v]तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्।तैत्तिरीय उपनिषद् में अधिविद्यदर्शन का कथन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि इसका प्रथम वर्ण आचार्य है, अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सन्धि है और प्रवचन (प्रश्नोत्तर रूप से निरूपण करना) सन्धान है। **अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः प्रवचनंसन्धानम्।**[vi]

ईशोपनिषद् में द्विविध प्रकार की विद्या बतलाई गई है– परा, अपरा। परा को ही विद्या के रूप में स्वीकार किया गया तथा अपरा को अविद्या के रूप में। इन दोनों विद्याओं को जानने वाला ही शिक्षा के उद्देश्यों को जान सकता है, क्योंकि दोनों का फल पृथक्–पृथक् है। शिक्षा के द्वारा विद्या प्राप्त करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥[vii]

विद्या का प्रमुख स्रोत है वैदिक साहित्य। जब शिष्य विद्या की शिक्षा गुरु से ग्रहण करता है, तब ऐसी ही शिक्षा से सांसारिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार संसार में अभ्युदय दिलाने वाली विद्या अपरा है। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।[viii] ऋग्, यजु, साम, अथर्व ये चार वेद शिक्षा और व्याकरण पाणिनिऋषिकृत्, कल्प पिङ्गऋषिकृत्, निरुक्त यास्कऋषिकृत्, छन्द पिङ्गलाचार्यकृत्, ज्योतिष् सूर्यसिद्धान्तादि नाम से प्रसिद्ध वेद के ये छः अंग इत्यादि अन्य सब भी ऋषि प्रणीत ग्रन्थ अपरा विद्या है। सांसारिक बन्धन से छुटकारा दिलाने वाली विद्या परा है– **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**[ix]अर्थात् जिसके द्वारा हम परब्रह्म को जानते हैं उसे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, वह परा विद्या है।

जिस 'भौतिक विज्ञान' को आजकल के युग में 'विद्या' कहा जाता है, उसे इशोपनिषद् ने अविद्या कहा है। उपनिषद् का कथन है कि भौतिक विज्ञान अर्थात् अविद्या से केवल मृत्यु को तर सकते हैं, अमृत नहीं प्राप्त कर सकते। विज्ञान द्वारा मृत्यु से बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते हैं, स्वास्थ्य के नियमों अथवा औषधियों का पता लगाया जा सकता है, भूख (अशनाया–भोग) और प्यास (पिपासा–चाह) रूप मृत्यु को हटाया जा सकता है, अमरता नहीं प्राप्त की जा सकती। अमरता तो अध्यात्म ज्ञान से ही प्राप्त होती है, और वही वास्तव में विद्या है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए तभी कहा है– अमृतस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन.... भौतिक जगत से वित्त मिल सकता है, अमृत नहीं मिल सकता। तीसरी महत्त्व की बात यहां यह कही गई है कि व्यक्तिवाद से मनुष्य केवल मृत्यु से बच सकता है, खाना, पीना, पहनना, ओढना मात्र कर लेता है, इससे आगे नहीं बढ सकता। अमरता प्राप्त करने के लिए इससे आगे बढना होगा, समष्टि में अपने को मिटाना होगा। समाज को अपने लिए नहीं, परन्तु अपने को समाज के लिए साधन बनाना होगा।

उपनिषद्दिशा शिक्षा प्रणाली के सन्दर्भ में विद्यार्थी जीवन से सम्बद्ध तीन संस्कारों के संकेत उपनिषद् साहित्य में मिलते हैं– १) उपनयन संस्कार, २) वेदारम्भ संस्कार, ३) समावर्तन संस्कार।अथर्ववेद की पंक्ति में भी उल्लिखित है– आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥[x] अर्थात् आचार्य शिष्य को तीन रात्रियों तक अपने आश्रम में रखते हैं, तब शिष्य का दूसरा जन्म होता है। इसके बाद उपनयन संस्कार होता है।

उपनयन संस्कार–

बृहदारण्यकोपनिषद् में उपनयन संस्कार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है– राजा प्रवाहण ने गौतम से कहा कि वह शास्त्रसम्मत विधि से मुझसे विद्या ग्रहण करे। तब गौतम ने कहा कि ठीक है, मैं आपके पास शिष्य भाव से आता हूँ। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु से उसके पिता आरुणि ने कहा कि वह ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करे। फलस्वरूप श्वेतकेतु ने बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कराकर ब्रह्मचर्याश्रम में निवास किया और चौबीस वर्ष की अवस्था में सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके वापस लौटा।

वेदारम्भ संस्कार–

उपनिषदों में वेदारम्भ संस्कार के लिये आचार्य द्वारा शिष्य के साथ यज्ञवेदी पर आकर मंगलाचरण करने, देवताओं का पूजन करने एवं तत्पश्चात् शिष्य को उपदेश देने का विधान है। तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदारम्भ हेतु गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं– ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च।[xi] अर्थात् शिष्य को सृष्टि के नियमों को समझते हुए यथायोग्य सदाचार का पालन करना चाहिए। तपश्चर्या अर्थात् सात्विक श्रम सहित अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। इन्द्रियों का दमन करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। मन का नियन्त्रण करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। यज्ञ के लिए अग्नि का चयन करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। अग्निहोत्र करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए।अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च।[xii] अथिति सत्कार करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए। शास्त्रविधि से गर्भाधान संस्कार सम्पन्न करते हुए स्वाध्याय एवं अध्यापन करना चाहिए तथा कुटुम्ब का अभ्युदय करते हुए अध्ययन एवं अध्यापन करना चाहिए।

समावर्तन संस्कार–

गुरुकुल से लौटते समय सम्पन्न किए जाने वाले समावर्तन संस्कार के विषय में भी उपनिषद् में पर्याप्त जानकारी मिलती है। इस समय आचार्य शिष्य को जो भी उपदेश देता है, उसकी दृष्टि से तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली का एकादश अनुवाक विशेष रूप से द्रष्टव्य है– वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।[xiii] सत्यं वद..... अर्थात् आचार्य अपने आश्रम मेंरहने वाले ब्रह्मचारी विद्यार्थी को, वेद का भली भाँति अध्ययन कराकर, उसे लौकिक व्यवहार ज्ञान हेतु सदुपदेश देता है कि सदा सत्य बोलना, झूठ का सहारा न लेना, धर्म का आचरण करना, वेदादि का अध्ययन करने में किसी भी प्रकार की लापरवाही मत करना, अपने आचार्य को गुरु दक्षिणा देने के लिए उनकी इच्छानुसार ही धन लाकर प्रेमपूर्वक देना, फिर उनकी अनुमति पाकर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तानपरम्परा का विच्छेद न करना, सत्यमार्ग से विचलित मत होना, धर्ममार्ग से विचलित न होना, समस्त शुभ लौकिक कर्मों का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करने में प्रमाद नहीं करना, धनप्राप्ति को बढाने के साधनों के विषय में प्रमाद न करना, स्वाध्याय एवं अध्यापन के नियम की अवहेलना नहीं करना, यज्ञादि देवकार्य एवं श्राद्धतर्पणादि पितृकार्य सम्पन्न करने में भी प्रमाद नहीं करना , तुम अपने माता, पिता, आचार्य एवं अतिथि का आदर उनके प्रति देवबुद्धि रखते हुए करना, संसार में जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं को करना, इनके अतिरिक्त जो दूषित कर्म हैं, उन्हें नहीं अपनाना, गुरुजनों के जो अच्छे कार्य हों, उन्हें ही अपनाना, उनके जो अच्छे कार्य न हों, उन्हें नहीं अपनाना, जो कोई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष आएं उनकोआसनादि देकर अपनी शक्ति के अनुसार सादर उनकी सेवा करना, उन्हें श्रद्धापूर्वक दान देना, अश्रद्धा से भी देना, अपनी बढती श्री में से दान देना, श्री न बढ रही हो तो भी लोक लाज से देना, भय से देना, प्रेम से भी देना, विवेकपूर्वक दान देना, अब यदि उपर्युक्त कर्त्तव्य को करने में कोई आशंका हो अथवा सदाचार के विषय में कोई आशंका हो तो, जो उत्तम परामर्श देने वाले, कुशल, अच्छे कर्म एवं सदाचार में पूर्णरूप से लगे हुए, स्निग्ध स्वभाव वाले एवं धर्म की कामना करने वाले ब्राह्मण हों, वे (उन सन्देहयुक्त स्थानों में) जैसा आचरण करते हों, वैसा ही आचरण करना, यही शास्त्र का आदेश है और यही गुरुजनों का पुत्रों एवं शिष्यों के प्रति उपदेश है, यही वेदों का रहस्य है और यही परम्परागत अनुशासन है, इसी का अनुष्ठान करना चाहिए तथा इसी सदाचार का पालन करना चाहिए।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है– **आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथा विधानं गुरोः कर्मातिशेषेण।**[xiv] आचार्यकुल से वेदों का अध्ययन करके यथाविहित गुरु की आज्ञा का पालन तथा शुश्रूषा आदि करनी चाहिए। उसके बाद जो समय बचे उसमें यथाविधि वदों का अध्ययन करे। तदनन्तर समावर्तन संस्कार होने पर शुद्ध प्रवेश में कुटुम्ब के साथ स्वाध्याय करता हुआ, धार्मिक कार्यों को करता हुआ, सब इन्द्रियों का आत्मा में निग्रह करता हुआ, तीर्थ स्थानों में ही नहीं उनके अतिरिक्त भी सर्वत्र सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्यवहार करता हुआ विचरे। जो इस प्रकार विचरण करता है, वह इस जन्म में ही आयु पर्यन्त ब्रह्म लोक में ही विचरण करता है।

श्रुति परम्परा से वेदों के संरक्षण के साथ साथ उपनिषद् काल में व्याख्यान शैली तथा प्रश्नोत्तर शैली का पर्याप्त विकास हुआ। सर्वप्रथम ओंकार, व्याहृतियाँ, तथा गायत्री सिखाई जाती थी तदुपरान्त वेद के अन्य भाग पढाये जाते थे। यथा–

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम् । प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसमरयः॥[xv]

शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से किया जाता था। इससे पूर्व वर्ण परिचय और शब्दकोश आदि करा दिया जाता था, किन्तु वेद की शिक्षा उपनयन से ही प्रारम्भ होती थी। अपनी शिक्षा की सम्पूर्ण अवधि में शिष्य गुरुकुल या तपोवन में गुरु के समीप रहता था। गुरु और शिष्य में पिता व पुत्र सदृश स्नेह तथा सम्मान का सम्बन्ध होता था। सम्पूर्ण शिक्षा निःशुल्क थी। वेदाध्ययन के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। गुरुकुलों की आर्थिक व्यवस्था का दायित्व समाज तथा राज्य वहन करता था। शिक्षा समाप्ति पर अपनी इच्छा और सामर्थ्य के अनुसार शिष्य अपनी कृतज्ञता के प्रतीक रूप में गुरुदक्षिणा दिया करता था। शिक्षा की पूर्ण अवधि में ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य था। गुरुकुल के सभी छात्रों को गुरु समदृष्टि से देखता था, भले ही वह सामर्थशाली राजा का पुत्र हो अथवा निर्धन ब्राह्मण का पुत्र। प्रत्येक बालक को उसकी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार पाठ्यविषय पढाए जाते थे। विशिष्ट विषयों में सिद्धान्तों के साथ उनके व्यावहारिक क्रियान्वयन का कौशल भी सिखाया जाता था, जिससे छात्र को सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों उपस्थित हो जाते थे। शिक्षा की एक प्रमुख विशेषता थी सरल जीवन एवं उच्च विचार। संग्रह एवं प्रदर्शन की प्रवृत्ति को त्यागकर निरन्तर उच्च विचारों को आत्मसात कराना ही इस शिक्षा का उदात्त स्वरूप है।

---

[i]तैत्तिरीयोपनिषद् १.२
[ii]कठोपनिषद् ६.१९
[iii]ईशोपनिषद् १३
[iv]तैत्तिरीय संहिता ६.३.१०.५
[v]छान्दोग्योपनिषद् ४.९.३
[vi]तैत्तिरीय उपनिषद् १.३.२,३
[vii]ईशोपनिषद् ११
[viii]मुण्डकोपनिषद् १.१.५
[ix]मुण्डकोपनिषद् १.५
[x]अथर्ववेद ११.५.३
[xi]शिक्षावल्ली ९
[xii]तैत्तिरीयोपनिषद्
[xiii]तैत्तिरीयोपनिषद्
[xiv]छान्दोग्योपनिषद् ८.१५.१
[xv]याज्ञवल्क्य स्मृति १.२३